

डेहरी रोहतास लाइट रेल कंपनी लिमिटेड

बनाम

जिला बोर्ड भोपाल और अन्य

मार्च 12, 1992

[एम. फातिमा बीवी और एस. सी. अग्रवाल, न्यायमूर्तिगण]

बंगाल उपकर अधिनियम, 1880:

धारा 5 और 6 — उपकर — का भुगतान — अपंजीकृत समझौता किया गया — ऐसे समझौते की उपेक्षा करते हुए की गई माँगें — उनकी वैधता।

भारत का संविधान, 1950 :

अनुच्छेद 226—रिट — दावा किए गए उपचार—पक्ष अन्यथा उपचार का हकदार हैं—
चाहे वह बाधाओं और देरी के एकमात्र आधार पर वंचित हो।

अपीलकर्ता एक हल्की रेलवे चलाने के व्यवसाय में लगा हुआ था और बंगाल उपकर अधिनियम, 1880 की धारा 5 के तहत उपकर का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी था।

अपीलकर्ता और उत्तरदाता के बीच किए गए एक अपंजीकृत समझौते के माध्यम से यह सहमति हुई कि अपीलकर्ता, अपीलकर्ता-कंपनी द्वारा किए गए लाभ या हानि की परवाह किए बिना, उपकर के लिए रु. 10,000 प्रति वर्ष की एक निश्चित राशि का भुगतान करेगा। तदनुसार अपीलकर्ता 1953-54 1966-67 तक उपकर का भुगतान कर रहा था।

1967 में उत्तरदाता ने अपीलकर्ता को सूचित किया कि राज्य अपंजीकृत समझौते से बाध्य नहीं है और उपकर के बकाया के लिए रु.9,86,809.33 की मांग की। अपीलकर्ता ने उप-न्यायाधीश के समक्ष उक्त अपंजीकृत समझौते को लागू करने और उत्तरदाताओं को प्रति वर्ष रु.10,000 प्रति वर्ष की सहमत राशि से अधिक की कोई भी मांग करने से रोकने के लिए एक मुकदमा दायर किया। मुकदमा खारिज होने पर, अपीलकर्ता ने उच्च न्यायालय के समक्ष अपील की। याचिका भी खारिज कर दी गई। वर्तमान अपीलों में से पहली, उच्च

न्यायालय के उपरोक्त फैसले के खिलाफ है।

इस बीच, अपीलकर्ता के खिलाफ 1967-68 से 1971-72 वर्षों के लिए उपकर के बकाया की मांग की गई थी। उच्च न्यायालय के समक्ष दायर एक रिट याचिका में अपीलकर्ता ने मांग को चुनौती दी। उच्च न्यायालय ने मांग को खारिज कर दिया। इसके बाद अपीलकर्ता ने 1953-54 से 1966-67 तक के वर्षों के लिए मांग नोटिस को रद्द करने के लिए एक और रिट याचिका दायर की। उच्च न्यायालय ने रिट याचिका को खारिज कर दिया और उक्त आदेश के खिलाफ दूसरी अपील दायर की गई है।

अपीलकर्ता ने तर्क दिया कि कंपनी का शुद्ध लाभ आंशिक रूप से अचल संपत्ति के स्वामित्व और आंशिक रूप से चल संपत्तियों के स्वामित्व से संबंधित था, और केवल अचल संपत्ति के उपयोग से प्राप्त शुद्ध लाभ का वह हिस्सा ही उपकर के लिए उत्तरदायी था।

उत्तरदाता ने तर्क दिया कि चूंकि अपीलकर्ता ने पहली रिट याचिका में पिछले वर्षों के लिए उठाई गई मांगों को चुनौती नहीं दी थी, बल्कि कई वर्षों की अत्यधिक देरी के बाद दायर की गई बाद की रिट याचिका में चुनौती दी थी, इसलिए उसके दावे को सही ढंग से खारिज कर दिया गया था।

अपीलों का निपटारा करते हुए, यह न्यायालय,

अभिनिर्धारित : 1. यह सही है कि अपीलकर्ता ने वाद दायर करते समय ही मांगों की कानूनी वैधता का प्रश्न उठा सकता था और बाद के वर्षों की मांग को रिट याचिका में चुनौती देते हुए पूर्ववर्ती वर्षों के संबंध में भी राहत मांग सकता था। किंतु मामले की परिस्थितियों में केवल ऐसा न करने मात्र से अपीलकर्ता को विधि के अंतर्गत उपलब्ध उपचारों से वंचित नहीं किया जा सकता। यह मांग स्वयं में अचल संपत्ति के शुद्ध लाभ पर आधारित नहीं है, बल्कि व्यवसाय की आय पर आधारित है और इसलिए यह अधिकार-विहीन है। अपीलकर्ता ने पूर्व कार्यवाहियों में वैधता का प्रश्न न उठाने के लिए संतोषजनक स्पष्टीकरण दिया है। प्राधिकारियों ने दावे की प्रकृति के संबंध में विधि की त्रुटि के अधीन कार्य किया। अपीलकर्ता ने रिट

याचिका में पूर्ववर्ती माँग को इसलिए सम्मिलित नहीं किया क्योंकि देयता को सीमित करने वाले समझौते को प्रवर्तित कराने हेतु दायर वाद अपील में लंबित था; तथापि, अपीलकर्ता ने अपील में ही यह प्रश्न उठाने का प्रयास किया था। परंतु न्यायालय ने यह कहते हुए अतिरिक्त आधार पर विचार करने से इंकार कर दिया कि वह वाद की परिधि से बाहर है। इसके पश्चात सभी परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए रिट याचिका दायर की गई। उच्च न्यायालय ने इस देरी को अत्यधिक माना। उच्च न्यायालय सभी प्रासंगिक तथ्यों की सराहना करने में विफल रहा, विशेष रूप से इस तथ्य की कि उक्त माँग पहले ही एक अन्य मामले में उच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित की जा चुकी थी। [160 एच; 161 ए-डी]

2. जिस सिद्धांत के आधार पर अत्यधिक विलंब या देरी के कारण किसी पक्ष को राहत देने से इनकार किया जाता है, वह यह है कि याचिका दायर करने में हुई देरी के कारण यदि अन्य व्यक्तियों के अधिकार उत्पन्न हो गए हों, तो उन्हें तब तक बाधित नहीं किया जाना चाहिए, जब तक देरी के लिए कोई उचित और संतोषजनक स्पष्टीकरण न हो। ऐसे मामलों में देरी का वास्तविक परीक्षण यह है कि याचिकाकर्ता को रिट न्यायालय में उस समय से पूर्व आ जाना चाहिए, जब तक कोई समांतर अधिकार उत्पन्न न हो जाए, और यह कि समय का व्यतीत होना किसी अत्यधिक विलंब या लापरवाही के कारण न हो। परीक्षण केवल समय के यांत्रिक बीत जाने का नहीं है। जहाँ परिस्थितियाँ याचिकाकर्ता के आचरण को न्यायोचित ठहराती हों, वहाँ जो स्पष्ट और प्रत्यक्ष अवैधता है, उसे मात्र अत्यधिक विलंब के आधार पर बनाए नहीं रखा जा सकता। [161 ई-एच; 162 ए]

त्रिलोक चंद बनाम एच.बी. मुंशी, [1969] 2 एससीआर 824, प्रतिष्ठित।

3. तत्काल मामले में, उपक्रम के शुद्ध लाभ पर मूल्यांकन के आधार पर 1953-54 से 1966-67 वर्षों के लिए की गई मांगें स्पष्ट रूप से असंधार्य हैं। उपकर अधिकारियों को कंपनी द्वारा व्यवसाय के उद्देश्यों के लिए उपयोग की जाने वाली अचल संपत्तियों के केवल शुद्ध लाभ को ध्यान में रखते हुए आकलन-सी करना होगा और मूल्यांकन को तदनुसार संशोधित किया

जाना चाहिए। [162 बी-सी]

4. अपीलकर्ता द्वारा दिए गए वचन को ध्यान में रखते हुए यह निर्देश दिया गया कि पुनर्मूल्यांकन पर यदि अपीलकर्ता द्वारा इन वर्षों के लिए भुगतान की गई राशि इस प्रकार निर्धारित राशि से अधिक है तो जिला बोर्ड अतिरिक्त राशि की कोई वापसी करने के लिए उत्तरदायी नहीं होगा और यदि संगणित उपकर पहले से भुगतान की गई राशि से अधिक है, तो इस तरह की अतिरिक्त राशि का भुगतान करने का दायित्व अपीलकर्ता का होगा। [162 ई-एफ]

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार : 1983 की दीवानी अपील सं. 3250

1980 की सी.डब्ल्यू.जे.सी. सं. 1266 में पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 6.1.1981 के निर्णय और आदेश से।

के साथ

1983 की दीवानी अपील सं. 3249।

अपीलकर्ता के लिए एस. के. सिन्हा।

उत्तरदाताओं के लिए एम.एल. वर्मा और बी.बी. सिंह।

न्यायालय का निर्णय इनके द्वारा दिया गया था

फातिमा बीवी, न्यायमूर्ति अपीलकर्ता मेसर्स डेहरी रोहतास लाइट रेलवे कंपनी लिमिटेड ने बिहार के रोहतास जिले में डेहरी-ऑन-सोन से तिउरा पिपराडीह के बीच एक हल्की रेलवे चलाने का व्यवसाय किया। उक्त हल्के रेलवे के लिए रेलवे लाइन 67 किलोमीटर से अधिक बिछाई गई थी। आवृत क्षेत्रफल 413.55 एकड़ का था स्वामित्व और/या पट्टेदार के रूप में कंपनी द्वारा उपयोग किया जाता था। अपीलकर्ता 1880 के बंगाल उपकर अधिनियम IX की धारा 5 के तहत जिला बोर्ड को उपकर का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी था।

अपीलकर्ता और शाहाबाद जिला बोर्ड, (अब भोजपुर) के बीच 7.8.1953 को एक अपंजीकृत समझौता किया गया था। इस प्रकार यह सहमति हुई कि कंपनी 1880 के बंगाल

उपकर अधिनियम IX के तहत कंपनी द्वारा अपने रेलवे व्यवसाय में किए गए लाभ या हानि की परवाह किए बिना रेलवे के संबंध में उपकर के लिए प्रति वर्ष रु.10,000 [प्रति वर्ष की एक निश्चित राशि का भुगतान करेगी। कंपनी ने दिनांक 7.8.1953 के समझौते के अनुसार 1953-54 से 1966-1967 तक की अवधि के लिए उपकर का भुगतान किया।

27.10.1967 को, समाहर्ता ने अपीलकर्ता से रु.9.86,809.33 पैसे की मांग की यह सूचित करते हुए कि राज्य दिनांक 7.8.1953 के अपंजीकृत समझौते से बाध्य नहीं है। कंपनी ने समझौते को लागू करने और उत्तरदाताओं को प्रति वर्ष रु.10,000 से अधिक की कोई भी मांग करने से रोकने के लिए तीसरे अतिरिक्त उप न्यायाधीश, सासाराम, की अदालत के समक्ष 1968 का मुकदमा सं.60 दायर किया। दिनांक 13.9.1971 के निर्णय द्वारा मुकदमा खारिज कर दिया गया था। उस फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय के समक्ष दायर 1971 की पहली अपील सं.1242 को भी 23.5.1980 के फैसले द्वारा खारिज कर दिया गया था। 1983 की दीवानी अपील सं.3249 उच्च न्यायालय के इस निर्णय के खिलाफ निर्देशित है।

इस बीच कंपनी के खिलाफ 1967-1968 से 1971-1972 तक के वर्षों के लिए उपकर की मांग की गई थी। इस मांग को कंपनी ने 1974 की रिट याचिका सं.1372 दायर करके उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी थी। उच्च न्यायालय ने दिनांक 30.3.1979 के निर्णय द्वारा मांग के एफ नोटिस को इस निर्देश के साथ रद्द कर दिया कि बंगाल उपकर अधिनियम 1880 की धारा 5 के साथ पठित धारा 6 के तहत उपकर का मूल्यांकन कैसे किया जाना है। 1979 में बिहार बार काउंसिल जर्नल 428 में रिपोर्ट किए गए इस फैसले के आधार पर, अपीलकर्ता ने संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत 1980 का सी.डब्ल्यू.जे.सी सं.1266 पटना उच्च न्यायालय के समक्ष 1953-54 से 1966-1967 की अवधि के लिए मांग नोटिस को रद्द करने के लिए दायर किया। उच्च न्यायालय ने 6.1.1981 के फैसले द्वारा प्रारंभिक चरण में ही रिट याचिका खारिज कर दी। 1983 की दीवानी अपील सं.3250 उच्च न्यायालय के दिनांक 6.1.1981 के फैसले के खिलाफ निर्देशित है।

बंगाल उपकर अधिनियम बिहार राज्य में लागू था और उक्त अधिनियम की धारा 5 के अंतर्गत सभी अचल संपत्तियाँ स्थानीय उपकर के लिए उत्तरदायी थीं। धारा 6 के अनुसार स्थानीय उपकर का निर्धारण भूमि के वार्षिक मूल्य के आधार पर किया जाना था और जब तक संसद द्वारा इसके विपरीत कोई प्रावधान नहीं किया जाता, तब तक खानों और खदानों, तथा ट्रामवे, रेलवे और अन्य अचल संपत्तियों से प्राप्त वार्षिक शुद्ध लाभ के आधार पर उपकर आकलित किया जाना था। अतः कंपनी द्वारा अपनी उन अचल संपत्तियों के संबंध में, जिन पर उसकी रेलवे का निर्माण और संचालन किया गया है, देय उपकर का आकलन उन्हीं अचल संपत्तियों से उत्पन्न शुद्ध लाभ के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि रेलवे चलाने के संपूर्ण व्यवसाय से प्राप्त कुल शुद्ध लाभ के आधार पर, जो कंपनी को अपने रेलवे उपक्रम से प्राप्त होता है।

अतिरिक्त समाहर्ता ने कंपनी की भूमि के संबंध में उपकर की कथित बकाया राशि के रूप में रु.9.86,809.33 पैसे की मांग, वर्ष 1953-54 से 1966-67 तक के लिए, विभिन्न नोटिसों द्वारा की, जबकि संबंधित अवधि के लिए समझौते के अनुसार पूरा किराया और उपकर पहले ही अदा किया जा चुका था। ये मांगें कंपनी द्वारा अपनी रेलवे के लिए प्रयुक्त उक्त भूमियों से प्राप्त शुद्ध लाभ के आधार पर नहीं की गईं, बल्कि पूरे रेलवे उपक्रम के संपूर्ण व्यवसाय से प्राप्त शुद्ध लाभ के आधार पर की गईं। कंपनी ने भी जो विवरणियाँ दाखिल कीं, वे उक्त भूमियों से प्राप्त शुद्ध लाभ की नहीं थीं, बल्कि समग्र रूप से रेलवे व्यवसाय के शुद्ध लाभ को दर्शाने वाली थीं, और इन्हीं के आधार पर उपर्युक्त उपकर की मांगें की गईं।

कंपनी ने उत्तरदाताओं को रु.10,000/- से अधिक की कोई भी मांग करने से रोकने के लिए दिनांक 7.8.1953 समझौते के आधार पर 1953-54 से 1966-1967 वर्षों की मांग को चुनौती देते हुए मुकदमा दायर किया। मुकदमा एकमात्र इस आधार पर खारिज कर दिया गया था कि बिहार राज्य ने कंपनी और जिला बोर्ड के बीच समझौते के लिए सहमति नहीं दी थी।

बाद के वर्षों 1967-1968 से 1971-1972 की मांगों को रिट याचिका में इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि उपकर की उक्त मांगें कंपनी के पूरे रेलवे उपक्रम के शुद्ध लाभ पर आधारित थीं, न कि उक्त रेलवे उपक्रम के लिए उपयोग की गई भूमि के शुद्ध लाभ के आधार पर। उच्च न्यायालय ने रिट याचिका को स्वीकार करते हुए और उक्त नोटिसों को रद्द करते हुए आधार को स्वीकार कर लिया।

अतः, इन अपीलों में, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या अपीलकर्ता पिछले वर्षों की मांगों के संबंध में समान राहत का हकदार है। चूंकि पहले के वर्षों की मांगें लंबित मुकदमे में चुनौती का विषय थीं, इसलिए कंपनी ने पहले दायर रिट याचिका में उक्त मांगों को रद्द करने से राहत नहीं मांगी थी। जैसा कि कहा गया है, मुकदमे में चुनौती केवल समझौते के आधार पर थी अवैधता के आधार पर नहीं। कंपनी ने पहली रिट याचिका में पिछले वर्षों की मांगों को शामिल नहीं किया। इसलिए, उत्तरदाताओं के लिए यह तर्क दिया जाता है कि कई वर्षों के लंबे अंतराल के बाद दायर की गई दूसरी रिट याचिका को उच्च न्यायालय द्वारा सही ढंग से खारिज कर दिया गया था। यह भी तर्क दिया जाता है कि अब आग्रह किए गए आधार पर दीवानी मुकदमे में मांगों को रद्द नहीं किया जा सकता है। अतः, उत्तरदाताओं के लिए विद्वान अधिवक्ता ने कहा कि ये अपीलें विफल हो जानी चाहिए। उन्होंने *त्रिलोक चंद बनाम एच. बी. मुंशी*, [1969] 2 एससीआर 824, में इस न्यायालय के फैसले पर भी भरोसा किया। उच्च न्यायालय के फैसले के समर्थन में कि अत्यधिक देरी के बाद रिट याचिका पर विचार नहीं किया जा सकता है।

अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता ने उच्च न्यायालय के पहले के निर्णय का उल्लेख किया जिसमें न्यायालय ने इस प्रकार टिप्पणी की :-

“.... अधिनियम के संदर्भ में रेलवे से होने वाले शुद्ध लाभ को सीमित अर्थ में समझा जाना चाहिए। सेस का दायित्व रेलवे की अचल संपत्तियों से प्राप्त शुद्ध लाभ पर ही बनता है। अतः कंपनी का शुद्ध लाभ आंशिक रूप से उसकी अचल

संपत्तियों के स्वामित्व से तथा आंशिक रूप से उसकी चल संपत्तियों के स्वामित्व से संबंधित होता है। सेस केवल उसी हिस्से के शुद्ध लाभ पर लगाया जा सकता है, जो याचिकाकर्ता कंपनी की अचल संपत्तियों के उपयोग से प्राप्त हुआ हो। यदि यह दृष्टिकोण सही माना जाए, अनुलग्नक 3 से 7 में निहित वर्तमान मांग संधार्य नहीं है। तथापि, संबंधित प्राधिकरणों के लिए यह खुला रहेगा कि वे यहाँ स्पष्ट की गई विधिक स्थिति के आलोक में सेस का पुनर्मूल्यांकन करें तथा यह निर्धारित करें कि शुद्ध आय का कौन-सा भाग कंपनी की अचल संपत्तियों के स्वामित्व से संबंधित है।”

तदनुसार यह तय किया जाता है कि उपकर अधिनियम के तहत प्रभारिता का वैधानिक आधार कंपनी की अचल संपत्ति है। अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता ने कहा कि उपकर प्राधिकरणों का अधिकार क्षेत्र केवल अचल संपत्तियों से प्राप्त कंपनी के शुद्ध लाभ पर उपकर लगाने तक सीमित है और कोई भी अलग रुख भारत के संविधान के अनुच्छेद 265 द्वारा प्रभावित होगा।

अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अपीलकर्ता को विलंब और लापरवाही के कारण राहत से वंचित किया जाना चाहिए। यह सत्य है कि अपीलकर्ता, वाद दायर करते समय ही, मांगों की वैधता का प्रश्न उठा सकता था और पूर्ववर्ती वर्षों के संबंध में राहत की मांग कर सकता था, साथ-साथ बाद के वर्षों की मांग को रिट याचिका में चुनौती दे सकता था। किंतु इस मामले की परिस्थितियों में केवल ऐसा न कर पाने मात्र से, हमारे विचार में, अपीलकर्ता कानून के अंतर्गत उपलब्ध उपचारों से वंचित नहीं हो जाता। यह मांग *वास्तव में* अचल संपत्ति से प्राप्त शुद्ध लाभ पर आधारित नहीं है, बल्कि व्यवसाय की आय पर आधारित है और इस कारण वह अधिकार-विहीन है। अपीलकर्ता ने पूर्व कार्यवाहियों में वैधता का प्रश्न न उठाने के लिए स्पष्टीकरण भी दिया है। प्रतीत होता है कि प्राधिकारियों ने दावे की प्रकृति के संबंध में विधि की भूल के आधार पर कार्य किया। अपीलकर्ता ने पूर्व मांग को रिट याचिका में

इसलिए सम्मिलित नहीं किया क्योंकि देयता को सीमित करने वाले समझौते को लागू कराने हेतु दायर वाद अपील में लंबित था; तथापि, अपीलकर्ता ने उस अपील में भी यह प्रश्न उठाने का प्रयास किया था। परंतु न्यायालय ने इसे वाद के दायरे से बाहर मानते हुए उस अतिरिक्त आधार पर विचार करने से इंकार कर दिया। इसके पश्चात् सभी परिस्थितियों को स्पष्ट करते हुए वर्तमान रिट याचिका दायर की गई। उच्च न्यायालय ने विलंब को अत्यधिक माना। हमारे मत में, उच्च न्यायालय सभी प्रासंगिक तथ्यों की सराहना करने में विफल रहा, विशेष रूप से इस तथ्य की कि यह मांग अवैध है, जैसा कि वह स्वयं पूर्व मामले में घोषित कर चुका था।

वह नियम जो कहता है कि न्यायालय विलंबित और पुराने दावे की जांच नहीं कर सकता है, वह कानून का नियम नहीं है, बल्कि विवेक के ठोस और उचित प्रयोग पर आधारित व्यवहार का नियम है। प्रत्येक मामला अपने तथ्यों पर निर्भर होना चाहिए। यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि मौलिक अधिकार का उल्लंघन और दावा किया गया उपाय क्या है और देरी कैसे हुई। जिस सिद्धांत पर पक्ष को अड़चनों या देरी के आधार पर राहत देने से इनकार किया जाता है, वह यह है कि याचिका दायर करने में देरी के कारण दूसरों को जो अधिकार प्राप्त हुए हैं, उन्हें तब तक बाधित करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए जब तक कि देरी के लिए उचित स्पष्टीकरण है। ऐसे मामलों में देरी का निर्धारण करने के लिए वास्तविक परीक्षा यह है कि याचिकाकर्ता को एक समानांतर अधिकार बनाए जाने से पहले रिट अदालत में आना चाहिए और यह कि समय बीतने का कारण किसी भी लापरवाही या लापरवाही नहीं है। परीक्षण समय के भौतिक संचालन के लिए नहीं है। जहाँ आचरण को न्यायोचित ठहराने वाली स्थितियाँ मौजूद हैं, वहाँ जो अवैधता प्रकट होती है, उसे केवल बाधाओं के आधार पर कायम नहीं रखा जा सकता है। *त्रिलोक चंद* (उपरोक्त) में जिस निर्णय पर भरोसा किया गया है, वह वर्तमान मामले के तथ्यों पर अलग है। यदि रेलवे उपक्रम के शुद्ध लाभ पर आधारित शुल्क अधिकार से बाहर था और इसकी अवैध प्रकृति पर सवाल

उठाया गया है। यदि यह कर रेलवे उपक्रम के शुद्ध लाभ पर आधारित था, तो यह अधिकार क्षेत्र से बाहर था और इसके अवैध स्वरूप पर सवाल उठाए गए हैं, हालांकि बाद के वर्षों से संबंधित मामले में उच्च न्यायालय के फैसले के बाद लंबित कार्यवाही में यह सवाल देर से उठाया गया है। ऐसा मामला होने के कारण, अपीलकर्ता के दावे को देरी के एकमात्र आधार पर अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। हमारा मत है कि उच्च न्यायालय ने रिट याचिका को प्रारंभिक स्तर पर ही खारिज करके तथा मांगी गई राहत प्रदान करने से इंकार करके त्रुटि की है। हालांकि हम इस बात से सहमत हैं कि मुकदमा सही ढंग से खारिज कर दिया गया है।

चूंकि पूरा मामला हमारे सामने है, इसलिए हम यह नहीं मानते कि मामले को नए सिरे से निपटाने के लिए उच्च न्यायालय को वापस भेजना आवश्यक है। पहले के निर्णय के आलोक में, यह माना जाना चाहिए कि उपक्रम के शुद्ध लाभ पर मूल्यांकन के आधार पर 1953-1954 से 1966-1967 वर्षों के लिए की गई मांगें स्पष्ट रूप से अस्थिर हैं। उपकर प्राधिकरण को कंपनी द्वारा व्यवसाय के उद्देश्यों के लिए उपयोग की जाने वाली अचल संपत्तियों के शुद्ध लाभ को ध्यान में रखते हुए मूल्यांकन करना होगा और मूल्यांकन को तदनुसार संशोधित करना होगा। उत्तरदाता की ओर से यह उप-सूचित किया गया था कि जिला बोर्ड को प्रति वर्ष रु.10,000 प्रतिवर्ष की दर से उपकर प्राप्त हुआ है और यदि संशोधित मूल्यांकन पर देयता कम हो जाती है तो जिला बोर्ड पर बोझ डाला जाएगा की अतिरिक्त राशि को वापस करें और यह एक कारण है कि कंपनी के दावे पर इस समय के अंतराल पर विचार नहीं किया जा सकता है। यह भी कहा गया कि समझौते की शर्तों के तहत, जिला बोर्ड द्वारा रु.10,000 से अधिक राशि का भुगतान किया जाना है और यह एक अतिरिक्त बोझ होगा। अपीलकर्ता की ओर से यह उचित रूप से स्वीकार किया जाता है कि संशोधित मूल्यांकन के आधार पर कंपनी जिला बोर्ड से किसी भी धनवापसी का दावा नहीं करने का वचन देती है और समझौते के संदर्भ में उसी का भुगतान करने के दायित्व के साथ जिला

बोर्ड पर बोझ डाले बिना रु.10,000 से अधिक का भुगतान करेगी। जब कंपनी द्वारा ऐसा वचन दिया जाता है तो यह केवल न्यायसंगत, उचित और उचित होता है कि कंपनी के दावे पर विचार किया जाए और उपकर प्राधिकरण को पहले से की गई मांग को अवैध मानते हुए उन वर्षों के लिए देय उपकर की पुनः गणना करने का निर्देश दिया जाता है।

उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए 1983 की दीवानी अपील सं.3250 से उत्पन्न 1983 की दीवानी अपील सं.3249 को खारिज करते हुए और का निपटारा करते हुए, हम 1980 की रिट याचिका सं.1266 की अनुमति देते हैं और निम्नलिखित निर्देश देते हैं :-

"अपीलकर्ता कंपनी वर्ष 1953-1954 से 1966-1967 के लिए उपकर का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी है, जिसकी गणना 1974 की रिट याचिका सं.1372 के निर्णय के आलोक में की गई है। यदि कंपनी द्वारा इन वर्षों के लिए भुगतान की गई राशि निर्धारित राशि से अधिक है, तो जिला बोर्ड अतिरिक्त राशि की कोई वापसी करने के लिए उत्तरदायी नहीं होगा। यदि पुनर्गणना किया गया उपकर पहले से भुगतान की गई राशि से अधिक हो जाता है, तो ऐसी अतिरिक्त राशि का भुगतान करने का दायित्व अपीलकर्ता कंपनी पर होगा।

मामले की परिस्थितियों में, पक्षों को अपने संबंधित खर्चों को वहन करने का निर्देश दिया जाता है।

अपीलों का निस्तारण किया जाता है।

जी.एन.

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।